

१.१.८ अभिनय के प्रयोक्ता

अभिनय के सम्बन्ध में प्रयोक्तागण से अभिप्राय है- 'नाट्यमण्डली'। इसमें अभिनय करने वाले अभिनेताओं और अभिनय में सहायता करने वाले व्यक्तियों का समूह परिगणित है। नाट्य के लेखन से लेकर उसके मंच पर उतारने की प्रक्रिया में जिन-जिन व्यक्तियों का सहयोग अपेक्षित है वे सब नाट्य के प्रयोक्ता हैं। सूत्रधार, नट, नटी, पारिपार्श्विक, कुशीलव, विदूषक सहित नाट्य कर्म के उपयोगी पात्र इस वर्ग में सम्मिलित किये जाते हैं। शारदातनय के अनुसार नाट्य का प्रयोक्ता शैलूष, भरत, भाव, नट आदि नामों से पुकारा जाता है।

अभिनय का सम्बन्ध अभिनेता से है। नाट्यशास्त्र में अभिनेता शब्द उपलब्ध नहीं है। यह अपेक्षाकृत आधुनिक शब्द है। भरत ने इसके लिये दो शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया है- भरत और नट। नटों का सम्बन्ध मूलतः मूकाभिनय से है, जिसमें आंगिक अभिनय का प्राचुर्य होता है और भरतों का सम्बन्ध वाणी के अभिनय से है अर्थात् वाणी के उतार-चढ़ाव द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले वाचिक अभिनय से है। कालान्तर में ये दोनों शब्द पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने लगे।

नाट्यशास्त्र के २२-२६ अध्याय नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें स्त्री-पुरुष प्रकृति की विविधतायें और उनकी प्रकृति के अनुसार अभिनय की विशेषतायें बताई गई हैं। सामान्याभिनय, चित्राभिनय और वैशिक प्रकरणों में अभिनय और भूमिका विभाजन के सामान्य नियम बताये गये हैं। दर्शकगण भरत और नाट्यप्रयोक्ताओं के रूप में राजा, महारानी, रानी, सेनापति, मन्त्री, पुरोहित विदूषक, देव, दानव आदि अनेक प्रकृतियों को नाट्य के सहयोगी, प्रतियोगी आदि पात्रों के रूप में रंगमंच पर प्रत्यक्ष देखता है। इनके अतिरिक्त भरत ने ऐसे प्रयोक्ताओं का भी विवरण प्रस्तुत किया है जो साक्षात् रंगमंच पर अवतरित नहीं होते किन्तु नाट्याभिनय की सफलता में इनकी भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। पर्दे के पीछे रहते हुए ये नाट्य को न केवल गति प्रदान करते हैं अपितु उसकी सफलता में अपना योगदान करते हैं।¹ भरतमुनि ने इनके प्रयोज्य कर्तव्यों का निर्देश करके अपनी प्रयोगात्मक दृष्टि की सूक्ष्मता का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

नाट्यप्रयोक्ताओं को मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) अभिनय क्रिया के आधार पर- सूत्रधार, स्थापक, पारिपार्श्विक, भरत, कुशीलव, शैलूष, नायकादि पात्र की भूमिका निभाने वाले नट, नटी, नर्तक, नर्तकी आदि।

(२) संगीतज्ञ- गन्धर्व, किन्नर, तौरिप, नन्दी, बन्दी, वैतालिक, चारण, मागध, गायक, वीणावादक, वेणुवादक, मार्दगिक, तालधारक, वाग्गेयकार आदि।

(३) नाट्योपयोगी उपादान सम्भारक-इसके भी दो वर्ग किये जा सकते हैं..

- दूसरे उपवर्ग में कारुक, माल्यकार, आभरणकार, मुकुटकार, शिल्पी

. पहले उपवर्ग में प्रशिक्षक, नाट्याचार्य, उपाध्याय आदि

आदि सहकारी व्यक्ति।

इसी प्रसंग में भरत ने नाट्यकार (नाट्यलेखक/कवि) की भी चर्चा की है। नाट्य प्रयोग के लिये सभा-सन्निवेश, सभापति, मन्त्री, सभासदों के लक्षणों का भी विवरण दिया है। इनमें कतिपय प्रमुख प्रयोक्ताओं का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है।

- भरत- 'भृज्' धातु से 'अत' प्रत्यय करके अथवा 'भर' उपपद पूर्वक

'तन्' धातु से 'ड' प्रत्यय के योग से भरत शब्द व्युत्पन्न है। प्रथम व्युत्पत्ति का अर्थ

है- "बिभर्ति स्वांगम्।" अर्थात् जो स्वांग भरता है। लोक में इसे बहुरूपिया भी

कहते हैं। दूसरी व्युत्पत्ति का अर्थ है- "बिभर्ति लोकान्।" अर्थात् जो लोक का

भरण-पोषण करता है। नाट्य के परिप्रेक्ष्य में प्रथम व्युत्पत्ति भरतों के स्वरूप और

कार्यों की परिचायक है।

नाट्यप्रयोक्ताओं को यह नाम भरतमुनि द्वारा प्रशस्त मार्ग का अनुसरण करने

के कारण प्राप्त हुआ। नाट्यशास्त्रीय परम्परा में भरत शब्द एकवचन और बहुवचन

दोनों ही रूपों में मिलते हैं।² ब्रह्मा से नाट्यवेद ग्रहण कर उसकी शिक्षा का प्रचार-

प्रसार करने वाले भरत मुनि के लिये एक वचनान्त भरत पद का प्रयोग किया

जाता है। नाट्यप्रयोग के भरण या धारण करने वाले प्रयोक्ताओं के लिए

बहुवचनान्त भरत शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिस-जिस कला, हस्तकौशल

का आश्रय लेकर लोग आजिविका चलाते हैं, उन-उन कलाओं के नाम से उनकी

जातियाँ कही जाती हैं। इसलिये नाट्यशास्त्र का कर्ता भी भरत नाम से प्रसिद्ध है

और नाट्य से अपनी आजीविका चलाने वाला नट परिवार भी भरत कहलाता है।

मालतीमाधव और प्रियदर्शिका आदि रूपकों की प्रस्तावना में कथानक सूत्रधार स्वयं को और अपने नट समूह को भरतपुत्र कहता है। अमरकोष, याज्ञवल्क्य

स्मृति में भी नाट्यप्रयोक्ता के लिये भरत शब्द के प्रयोग की परम्परा का संकेत

मिलता है। शारदातनय के अनुसार ब्रह्मा ने प्रयोग ज्ञान के लिए प्रस्तुत मुनियों को

उक्त ज्ञान के भरण (धारण) करने का आदेश दिया था, इसलिये भरत नाम का

प्रचलन हुआ। इसी ग्रन्थ में एक अन्य प्रसंग में भाषा, वर्णों और विविध उपकरणों

की सहायता से अनेक प्रकृतियों के वेश, वय, कर्म, चेष्टा को धारण करने के

कारण नाट्यप्रयोक्ताओं की भरत संज्ञा का विधान किया गया है।

भरत शब्द में तीन अक्षर हैं- भकार, रकार और तकार। भकार से भाव, रकार

से राग और तकार से ताल का ग्रहण होता है। भाव, राग और ताल तीनों का

जानकार भरत कहलाता है। भरतों की ख्याति नाट्यविद्या के विशेषज्ञ के रूप में

थी। जातिवाचक संज्ञा के रूप में भरत उस समुदाय को कहते हैं जो गायन, वादन,

नर्तन और अभिनय में पारंगत था। नाट्यविद्या के आविर्भाव के समय में भरतगण

मौखिकपरम्परा के अनुरूप अपनी पीढ़ियों में ही पुत्रों और शिष्यों को रंगकर्म का

समस्त प्रशिक्षण दिया करते थे। नाट्यशास्त्र में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जो

भरतों की नाट्यशास्त्रीय परम्परा का संकेत करते हैं। यथा- कभी-कभी प्रयोग के

समय शास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये जब भरतों में स्पर्धा छिड़ जाती

थी तो प्राश्निक अन्तिम निर्णय देता था। मालविकाग्निमित्र में गणदास और हरदत्त

के वाद-विवाद में परिव्राजिका कौशिकी ने प्राश्निक की भूमिका निभाई थी।

भारती वृत्ति का नामकरण भरतों में प्रचलित व्यवहार के आधार पर किया गया

था। नाट्यशास्त्र के इक्कीसवें अध्याय में निर्देश दिया गया है कि पात्रों को अपने पैरों का संचालन भरतगण की परम्परा के अनुरूप करना चाहिये। वाचिक अभिनय

के प्रसंग में कहा गया है कि वाचिक अभिनय का प्रयोग स्वेच्छा से न कर के

भरतों की शैली के अनुरूप किया जाना चाहिये।

नाट्यशास्त्र के रचनाकार की संज्ञा भरतमुनि है। प्रायः नाट्यशास्त्र भरत नामक

किसी एक व्यक्ति की रचना माना जाता है। वस्तुतः अलग-अलग समय में अनेक भरतों ने नाट्यशास्त्र के वर्तमान कलेवर को गढ़ने में अपना योगदान किया है। आनुवंशिक श्लोकों के रूप में इस परम्परा के साक्ष्य वर्तमान नाट्यशास्त्र में उपलब्ध हैं। भरत और भरत वंश ने नाट्यकला के प्रयोग, प्रसार और संरक्षण में उल्लेखनीय योगदान किया। सम्भवतः इसीलिये उन्हें संघर्ष, शाप और अपमान का भागीदार बनना पड़ा था। इसका संकेत भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में किया है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में गिनाये गये भरत के सौ पुत्रों के नाम भरत की परम्परा के वंशजों के नाम मानना ही उचित है। इनमें से कोहल, वत्स, दत्तिल, शाण्डिल्य, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट आदि नाट्याचार्यों के रूप में भी उल्लिखित हैं। नाट्यशास्त्र के उक्त उल्लेखों से विदित होता है कि भरत जहाँ नाट्यशास्त्र के आदि आचार्य के रूप में विश्रुत हैं वहीं उनकी परम्परा में अपनी आजीविका का माध्यम अपनाने वाली अभिनयोपजीवी वर्ग की जातिवाचक संज्ञा भी भरत है। नाट्यशास्त्र के अनुसार भरतों की कुछ चारित्रिक विशेषतायें हैं। वह अकेला ही विविध भूमिकाओं में अभिनयों के द्वारा एवं वाद्यप्रयोग आदि से नाट्य को वहन करता है। नाट्य की सफलता में अपनी मुख्य भूमिका निभाता है। आवश्यकता के अनुसार अन्य भरतों का भी सहयोग लेता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भरत संज्ञक नटों का मुख्य कार्य अभिनय करना है। इन्हीं के नाम से भारतीवृत्ति का प्रचलन हुआ है। ये हर प्रकार के वाद्य बजाने और हर प्रकार की भूमिका निभाने में सक्षम होते हैं और नाट्यसम्बन्धी समस्त विधि-विधानों से पूर्णतः परिचित होते हैं।

- नट-नटी- भरतों के लिए सर्वाधिक प्रचलित संज्ञा नट है। इसका सामान्य अर्थ है- नाचने वाला या अभिनय करने वाला। 'नट' शब्द भ्वादिगणीय 'नट अवस्पन्दने' धातु से अच् प्रत्यय के प्रयोग से निर्मित है।¹ बेवर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने इसे 'नृती गात्रविक्षेपे' धातु (नृत्) का प्राकृत रूप माना जाता है। भरत के नाट्यशास्त्र में नट और नर्तक शब्द पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। उनके अनुसार जो लोक में घटित वृत्तान्त और जीवन की घटनाओं को रस, भाव और सात्त्विक भाव से संयुक्त करके मंचन करता है, वह नट कहलाता है। यहाँ

पाठभेद में नृती धातु का प्रयोग भी मिलता है। अमरकोष की रामाश्रमी टीका में भी नट् धातु नृत् अर्थ में मानी गई है। इसका कारण सम्भवतः यही प्रतीत होता है कि अमरसिंह ने तौर्यत्रिक अर्थात् नृत्य, गीत और वाद्य के समन्वित रूप को नाट्य के पर्याय में परिगणित किया है।

दशरूपावलोक में नट् और नृत् धातुयें स्पष्टतः भिन्नार्थ में निर्दिष्ट की गई हैं।

नट में 'नट अवस्पन्दने' धातु है और नृत्य में नृती गात्रविक्षेपे धातु है। नट् धातु के अवस्पन्दन का अर्थ है 'किञ्चित् चलन'। नृती गात्रविक्षेपे का अर्थ है- 'शारीरिक अंगों का विस्तार।' इसलिये नट (नाट्य), नर्तक (नृत्य) परस्पर भिन्न हैं। नाट्य में रस की प्रधानता के कारण सात्त्विक अभिनय की प्रधानता होती है, आंगिक क्रियायें किञ्चित् होती हैं। नृत्य में पदार्थ की प्रधानता से प्रत्येक भाव शारीरिक अंगों की विविध मुद्राओं से ही प्रदर्शित किया जाता है। इसलिये इसमें आंगिक अभिनय का प्राधान्य होता है। नाट्य का प्रयोक्ता नट और नृत्य का प्रयोक्ता नर्तक कहलाता है। प्राचीन भारतीय वर्ण व्यवस्था में ऐसे निर्देश भी मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति जिस प्रकार की कला या शिल्प को अपनी आजीविका के लिए अपनाता था उसी कला शिल्प व्यवसाय आदि के आधार पर उसकी वही जाति नाट्य के प्रदर्शन के व्यवसाय से जुड़े या नाट्य को अपनी आजीविका का प्रसिद्ध हो जाती थी। व्यक्ति उसी शिल्पादि के नाम से प्रसिद्ध हो जाता था। साधन बनाने वाले लोगों के समूह की नट संज्ञा उसी आधार पर प्रचलित हुई थी। नाट्यशास्त्र में स्पष्टतः नट समूह को एक नाटयोपजीवी वर्ग या जाति के रूप में ग्रहण किया गया है। इन्हीं में से विविध नटों को नाटकीय भूमिका के अनुसार नायक, प्रतिनायक, सहनायक आदि की भूमिका प्रदान की जाती थी।

आत्रेय प्रमुख ऋषियों ने भरत से नाट्योत्पत्ति विषयक प्रश्न किये थे। उन्होंने भरत से यह भी प्रश्न किया था कि आपके वंश की नटसंज्ञा में परिणति कैसे हुई? इससे ज्ञात होता है कि नट भरत के ही वंशज हैं। अमरकोष में शैलूष, नट, भरत, जायाजीव, शैलालिन्, कृशाश्विन् आदि शब्द पर्याय के रूप में पठित हैं। नट का वैशिष्ट्य रेखांकित करते हुए भरत व्यक्त करते हैं कि अच्छा शरीर,

सुन्दर रूप, अभिनय क्रियाओं का व्यावहारिक ज्ञान, धारणा शक्ति, नाटकीय संविधान से परिचय, नाटकीय कर्म का कुशलतापूर्वक सम्पादन करने वाला व्यक्ति नट होने योग्य है। इसे संगीत विधान का भी ज्ञान होना चाहिए। इसका सर्वोपरि वैशिष्ट्य है- मौलिक प्रतिभा और रूपकों को मंच पर प्रस्तुत करने की क्षमता।

अभिनय कर्म में निरत होने से नट को अभिनेता कहते हैं। अभिनेताओं का

अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व के आधार पर वो अपने मौलिक व्यक्तित्व पर पूरा नियन्त्रण रखते हुये किसी नाटकीय पात्र को जीवन्त करते हैं। अभिनेता

किसी अभिनेय पात्र की मनःस्थिति और चरित्र को आत्मसात् करता है। इस क्षमता के बिना वह अपनी भूमिका का उचित निर्वाह नहीं कर पाता। प्रत्येक अभिनेता में स्वयं के निजी व्यक्तित्व और अपनी भूमिका के पात्र के व्यक्तित्व के मध्य संघर्ष रहता है। जो इस द्वन्द्व में जितना अधिक सामञ्जस्य स्थापित कर पाता है, वह अभिनय में उतना ही सफल रहता है। इसका सर्वोपरि वैशिष्ट्य यह है कि वह अपने नैपुण्य से अनुकार्य और अनुकर्ता का भेद मिटा दे। दर्शकों को यह भान ही न हो कि राम का अभिनय किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किया जा रहा है।

सूत्रधार अभिनेताओं को उनके व्यक्तित्व के समनन्तर चरित्रों में ही रंगमंच पर उतारना पसन्द करते हैं। कुम्भकर्ण की भूमिका में कोई सुकुमार आकृति का अभिनेता और लव की भूमिका में कोई भीषण आकृति का अभिनेता अनुकूल नहीं कहा जा सकता। व्यक्तित्व के अनुरूप भूमिका के निर्वाह से अभिनय स्वाभाविक लगता है।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरत के सौ पुत्रों के नामों को देखने से स्पष्टतः लगता है कि वे सब भरत की नाट्यमण्डली के अभिनय में सहयोग करने वाले नट हैं। इनका व्यक्तित्व एक दूसरे भिन्न है और अपनी-अपनी योग्यता और व्यक्तित्व के अनुरूप ही अभिनय में नियुक्त किये जाते होंगे। कतिपय नाम द्रष्टव्य हैं- शाण्डिल्य, वात्स्य, कोहल, दत्तिल, तण्डुशिख, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट, पुलोमा, बादरि, गौतम, बादरायण आदि परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्याचार्य के रूप में उल्लिखित हैं।

विपुल, धूम्रायण, पुण्ड्रनास, हिरण्याक्ष, चाषस्वर, भयानक, बीभत्स, शठ, रौद्र, वीर, विद्युज्जिह्व, उग्र, तुषार, ऋजुक, शबल आदि नाम व्यक्तित्व की भिन्नता को प्रदर्शित करते हैं। भरत स्वयं कहते हैं कि पितामह ब्रह्मा की आज्ञा से अपने सौ पुत्रों को भूमिका के विभाग के अनुसार जो जिस के योग्य था, उसे उसी भूमिका में लगा दिया गया।² रत्नावली नाटिका की प्रस्तावना की समाप्ति पर रंगमंच पर प्रवेश करता हुआ यौगन्धरायण सूत्रधार को भरतपुत्र कहता है। यही नाटिका में उदयन है। अभिनय का यथार्थ इसी में है कि नट अपनी कुशलता और परिपक्व अनुभव से

व्यक्तित्व की प्रकृति के विपरीत पात्र की भूमिका का निर्वाह अतीव दुस्साध्य का भूमिका भा निभाता है।

घटनाओं के नाटकीय विकास के अनुकूल दुस्साध्य को भी सुसाध्य बनाने की क्षमता रखता हो। नाट्य में दर्शकों से सीधा संवाद स्थापित करने वाला अभिनेता ही है। सूत्रधार का निर्देशन भी तभी सफल है जब उसे कुशल अभिनेताओं का सहयोग मिले। नाट्यकार जिस नाट्य का प्रणयन करता है और सूत्रधार कल्पना द्वारा अपनी चेतना में पुनः सृजित करता है, उसी का रंगमंच पर रसात्मक प्रदर्शन करने का दायित्व नटों का है।

यह कार्य परकाया प्रवेश के समान दुष्कर है। नट को पात्र की भूमिका में उतरना पड़ता है। अभिनय के समय उसकी चेतना वही रूप धारण करती है जो नाट्यकार ने अपने पात्र में संचरित की है। जो जितनी कुशलता से इस कार्य को सम्पन्न करता है, उसका प्रदर्शन उतना ही कलात्मक और सफल रहता है। कोरे अनुकरण से यह कार्य नहीं हो सकता। सूत्रधार के निर्देश के अनुसार नट अपनी भूमिका का अभिनय के लिये पुनः सृजन करता है। अपनी मौलिक प्रतिभा से उसमें नवीनता लाता है। तटस्थ भाव से कल्पित जीवन का अभिभावन करता है।

परिणामतः उसका अभिनय अनुकरणात्मक मात्र न होकर सौन्दर्यनिष्ठ हो जाता है।

• नटी- भरत के अनुसार जो शरीर रूप, गुण सौन्दर्य, सौभाग्य, धैर्य व शील से

सम्पन्न;

कोमल, मधुर, स्निग्ध और आकर्षक कण्ठ स्वर से युक्त, हेला (स्त्रियों

की स्वाभाविक लास्यपूर्ण चेष्टा) और भावों का अभिनय करने में समर्थ, मृदु

व्यवहार वाली, वाद्यों के वादन में कुशल, स्वर, ताल, लय और यति का समुचित

बोध रखने वाली नाट्याचार्य की सुश्रूषा करने वाली, चतुर, नाट्यप्रयोग में कुशल,

ऊहापोह में समर्थ, रूप और यौवनशालिनी स्त्री नाटकीया कहलाती है। वस्तुतः

भरत का अभिप्राय यहाँ प्रधानभूमिका का निर्वाह करने वाली अभिनेत्री से है। इसे नाटक में प्रधान भूमिका दी जाती है।
उदाहरण के लिये मालविकाग्निमित्रम् में

मालविका की भूमिका का निर्वाह करने वाली नटी।

यह नट की सहयोगिनी और आवश्यकता के अनुसार अभिनय में नियुक्त की

जाने वाली स्त्री प्रयोक्त्री है। शारदातनय के मत में नाट्यकर्म में नट की

अनुयोक्त्री, गृहिणी नटी कहलाती है। अनेक नाटकों में सूत्रधार नटी के सहयोग से

नाट्यारम्भ की प्रक्रिया संचालित करता है। यह संगीतकलाविज्ञा, अभिनय कार्य में

पारंगता और वस्त्र-आभूषण आदि नेपथ्य कर्म का भी संचालन करती है। रत्नावली

में सूत्रधार स्पष्टतः प्रस्तावना में संगीत कार्य के अनुष्ठान में सहायक नटी को

अपनी गृहिणी कहता है। सूत्रधार इसे 'आर्य' कहकर सम्बोधित करता है और यह

सूत्रधार को 'आर्य' सम्बोधन करती है। 'स्त्रीणां तु प्राकृतं पाठ्यं' 4 इस नियम के

अनुसार प्रस्तावना कार्य में इसकी संवाद-योजना प्राकृत में रखी जाती है।

अभिज्ञानशाकुन्तल में भी सूत्रधार नाटकीयवस्तु के उपस्थापन में इसका सहयोग

लेता है और दर्शकों के मनोरंजन के लिये गीत गाने का निवेदन करता है। नटी

द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रस्तुताक्षेपि गीत (इसिचुंबिए....अभि.ज्ञा., १/४) को आधार

बनाकर सूत्रधार रंगमंच पर दुष्यन्त के प्रवेश को सूचित करता है।

• सूत्रधार- संस्कृत नाट्यशास्त्र की परम्परा में सूत्रधार का स्थान सभी

प्रयोक्ताओं में प्रमुख है। यह प्रयोग का प्राण बन कर पात्रों को जीवन और गति देता

है। नाट्य के शास्त्रीय पक्ष को जानने के कारण इसे 'सूत्रज्ञ' भी कहते हैं। सूत्रज्ञ का

अभिप्राय है- नट सूत्रों को जानने वाला। नट-सूत्र नाट्य प्रयोग के नियम हैं। भरत के

पूर्व पाणिनि ने भी कृशाश्व और शिलालिन् के द्वारा रचित नट-सूत्रों का उल्लेखकिया है। नटसूत्रों के द्वारा नटों को अभिनय के संविधान की शिक्षा दी जाती है। इन को धारण करने के कारण नाट्याचार्य

सूत्रों के अध्येता की संज्ञा शैलाली। और कृशाश्वी भी प्रथित है। नाटकलक्षणरत्नकोश के अनुसार बीज से युक्त नाट्य-प्रयोग को सूत्र कहते हैं। सूत्रधार सारे नाटकीय सूत्र को अपने नियन्त्रण में रखता है। यहाँ उल्लिखित आचार्य शातकर्णि के मत के अनुसार नाट्यानुष्ठान के प्रयोग विषयक

सूत्र

को सूत्रधार कहते हैं। इसका कार्य पूर्वरंग में विशेषतः रहता है। यह नाटकीय पात्रों और अभिनेताओं में नहीं गिना जाता। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर स्वयं भी रंगमंच पर उपस्थित होता है तथा किसी भूमिका को भी निभाता है। जहाँ अन्य नट, पात्र और शिल्पी आदि नाट्य की पूर्णता के दायित्व में एकांगी योग देते हैं वहीं सूत्रधार नाट्यप्रयोग के सर्वांगीण आयामों पर दृष्टि रखता है और प्रमुखता से नाट्यप्रयोग की सफलता में अपनी भूमिका सिद्ध करता है।

सूत्रधार के गुण- सूत्रधार मेधावी, बुद्धिमान्, धैर्यवान्, उदार अपनी बात का पक्का, कवि, स्वस्थ, मृदुभाषी, समान व्यवहार करने वाला, शान्त, सदाचारी, प्रियवक्ता, क्रोधरहित, सत्यभाषी, पवित्र और (पुरस्कार आदि) प्राप्ति के अवसरों पर लोभ रहित होना चाहिए।

सूत्रधार को अभिनयशास्त्र और अभिनय की सहगामी संगीत, वाद्य आदि कलाओं का ज्ञाता होना अपेक्षित है। सूत्रधार की वाणी सधी हुई हो ताकि वह सभी पात्रों को उनकी भूमिका के अनुसार वाचिक अभिनय की शिक्षा दे सके। ताल, स्वर, रागादि के ज्ञान के बिना वह नाट्य के लिए इनका निर्देशन नहीं दे सकता।

सूत्रधार को रस एवं भाव के प्रदर्शन का ज्ञान होना भी आवश्यक है।

रंगव्यवस्था, नेपथ्यव्यवस्था, अभिनय, रंगप्रदीपन, सामाजिकों एवं प्राश्रिकों के बैठने

की व्यवस्था, पात्रों के रंगमंच पर प्रवेश और निष्क्रमण की व्यवस्था का भी ज्ञान होना चाहिए। मंच सज्जा के लिए उपयोगी साधनों जैसे चित्रकला, मूर्तिकला,

पुस्तविद्या (मिट्टी-कुट्टी, चमड़े आदि से रंगोपयोगी वस्तुओं का निर्माण)

आभूषण, शिल्प आदि के प्रयोग की विधि से भी परिचित होना चाहिए। इसके साथ

ही भाषा, विभाषा, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष, इतिहास, भौगोलिक प्रवृत्ति, कथा, वार्ता,

प्रवचन आदि में भी विज्ञता होनी चाहिए। ऐसा सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति भरत की दृष्टि में सूत्रधार बनने योग्य है।।

शारदातनय के अनुसार नान्दी श्लोक के द्वारा अथवा नान्दी के अन्त में काव्य में निक्षिप्त वस्तु, नेता, कथा तथा रस के सूत्र को धारण करने वाला सूत्रधार कहलाता है। यह घन, सुषिर, अवनद्ध और तन्त्री वाद्यों के विधान को जानने वाला, वाक्पटु, गीत-ताल का ज्ञाता होता है। यह नेता, कवि और कथावस्तु के गुणों को सूत्र रूप में धारण करता हुआ रंगमंच के प्रसाधन को भली-भाँति जानता है।¹² रंगमंच पर सूत्रधार की अवतारणा पूर्वरंग के प्रसंग में होती है। इसकी भूमिका नाटकीय पात्रों से पृथक् है। पूर्वरंग (पर्दा खुलने के पहले की क्रियाओं) के विधिविधानों को सांगोपांग सम्पन्न करके सूत्रधार रंगमंच से निकल जाता है।

तत्पश्चात् उसके समान वेशभूषादि से मण्डित स्थापक नामक नट मंच पर प्रवेश करके नाटकीय वस्तु की स्थापना करता है। कुछ नाटकों में काव्यार्थ की स्थापना का कार्य भी सूत्रधार करता है। नाटकों में कविगण प्रायः इसकी भूमिका का निर्देश-

“नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः।” इस प्रकार की वाक्य रचना के माध्यम से देते हैं। नान्दी के पश्चात् सूत्रधार प्रवेश करके अपने सहयोगी पारिपार्श्विक, नट, नटी या

विदूषक आदि के साथ काव्यार्थ सूचक प्रसंग से वार्तालाप करता हुआ ऋतुविशेष के गान से प्रेक्षकों का मनोरंजन करता है और इसी वार्तालाप के द्वारा पात्र आदि के प्रवेश की सूचना देकर वह अपने परिवार सहित निकल जाता है और नाटकीय पात्र के प्रवेश के साथ नाट्य प्रारम्भ हो जाता है।

नाट्याभिनय में सूत्रधार अभिनय का समस्त उत्तरदायित्व संभालता है।

पटकथालेखक जिन भावानुभूतियों के सहारे कथावस्तु का सृजन करता है, उन्हीं भावानुभूति के सहारे सूत्रधार कथावस्तु के अभिनय का निर्देशन करता है। वह कवि की भावानुभूति को ग्रहण करके मानसिक अभिनय को उपस्थित कर वस्तु का सृजन करता है। इस प्रकार आरम्भ में तो रचना से भावग्रहण करता है तत्पश्चात् कथावस्तु को समझकर रचनाकार की भूमिका निभा कर अपने ही मानसिक अभिनय का दर्शक बनता है। अन्त में भावानुभूति के गहन स्तर पर

पहुँचकर अभिनय का निर्देशन करता है।

सूत्रधार की भूमिका के कारण नाट्य साहित्य की अन्य विधाओं से भिन्न सिद्ध होता है। साहित्य की अन्य विधाओं का सम्बन्ध सीधे ही कवि और सहृदय वर्ग से जुड़ा है। जबकि नाट्य में सूत्रधार कवि और सहृदयों के मध्य सेतु का कार्य करता है। अपने विशाल नटवर्ग की सहायता से वह कवि की भावनाओं को प्रेक्षकों तक पहुँचाता है। प्रेक्षक नाट्यविधा में कवि की भावभूमि से सीधे संवाद स्थापित नहीं करता प्रत्युत सूत्रधार के माध्यम से ही तक पहुँच पाता है। अतः नाट्य प्रयोग में इसकी प्रेरणा और कल्पना का विशेष महत्त्व होने से भरत ने इसके सहज और उपार्जित गुणों का विस्तार से विवरण देकर इसके आदर्श और गुरुतर व्यक्तित्व को अंकित किया है।

- नाट्याचार्य भरतमुनि ने सूत्रधार को ही नाट्याचार्य कहा है। यह विद्वानों से प्राप्त शिक्षण और शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर अपने ज्ञान से गीत, वाद्य, नृत्त तथा पाठ्य को अभिनेताओं से प्रयोग कराता है। यह ज्ञान, विज्ञान, करण,

;

प्रयोग सिद्धि और शिष्यनिष्पादन की क्षमता से युक्त होता है।

- स्थापक- सूत्रधार के सहायकों में स्थापक का दायित्व सर्वाधिक उल्लेखनीय है। स्थापक (स्था + णिच् + पुक् + पवुल) शब्द का व्युत्पत्ति परक सामान्य अर्थ है- स्थापित करने वाला, नींव डालने वाला, किसी को दृढ़ता जमाने वाला। नाट्य के प्रसंग में इसका सम्बन्ध काव्यार्थ की स्थापना द्वारा नाटकीय वस्तु को दृढ़ता प्रदान करने वाले प्रयोक्ता से है। नाटककारों की उपलब्ध परम्परा में प्राचीनतम नाटककार भास के रूपकों में कथानक की स्थापना का कार्य स्थापक ही करता है किन्तु परवर्ती रूपकों में स्थापना का कार्य सूत्रधार के द्वारा कराया गया है और इस कार्य को प्रस्तावना कहा गया है। भवननिर्माण में जो कार्य भूमिका अर्थात् नींव का है, वही कार्य रूपक में स्थापना का है। भरतमुनि के अनुसार सूत्रधार के समान गुण और आकृति वाला स्थापक वैष्णवस्थानक चरणविन्यास को सौष्ठव युक्त शरीरावयवों से प्रस्तुत करते हुये मंच पर प्रवेश

करे तथा सूत्रधार के समान चारी में पाँच कदम चले। स्थापक के मंच प्रवेश के अवसर पर अर्थ के अनुरूप प्रावेशिकी ध्रुवा' का गान किया जाये। वैष्णवस्थानक में दोनों पैर ढाई ताल के अन्तर से, एक पैर समोत्थित तथा दूसरा बगल की ओर तिरछा, जंघा संकुचित व शरीर के अन्य अवयव सौष्ठव पूर्ण स्थिति में होते हैं। इनकी संगति के लिये मध्यलय में त्र्यन और चतुरस्र तालों का विधान किया जाना चाहिये। तत्पश्चात् स्थापक देवता और आदरास्पद व्यक्ति की भक्ति सूचक चारी को अनेक भावों तथा रसों से युक्त सुन्दर और मधुर श्लोकों के द्वारा प्रस्तुत करे। इस प्रकार रंगमण्डप में उपस्थित पेशकों का मनोरंजन करने के बाद नाटककारका

नाम कथानक, आदिको निति करने वाली स्थापना की पद्धति को अपनाये।

इसके लिये नत प्रस्तावना के सहायक कणोद्धात अवलगित आदि आमुख (प्रस्तावना) के भेदों की सहायता ले।

नाट्य को भूमिका जितना सफलता पूर्वक स्थापित की जायेगी, सम्पूर्ण नाटक का प्रभाव भी पेशक पर उतना ही पगार होगा। परवती नाट्यशास्त्रीय आचार्यों धनञ्जय, विश्वनाथ आदि के अनुसार भी पूर्वरंग की समाप्ति के बाद सूत्रधार रंगमंच से निकल जाता है, उसके बाद उसी के समान रूप, रंग और गुण वाला स्थापक प्रवेश करके नाटकीय प्रयोग को प्रारम्भ करने में सहायता करता है। कथावस्तु यदि मानवीय चरित्र पर आधारित है तो स्थापक मानवीय वेषभूषा धारण करता है। यदि कथानक दिव्यपार से सम्बन्धित है तो उसकी वेशभूषा दिल्य होती है। यदि कथानक दिल्यादिव्य अर्थात् मिषकोटि का है तो स्वेचण्या दिव्य या मानवीय कोई भी रूप धारण करके दर्शकों के सामने आता है। यह कार्य भारतीवृत्ति में आमुख (प्रस्तावना के द्वारा) के अन्तर्गत किया जाता है। धनजय, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने स्थापक को गुणों और प्रभाव में सूत्रधार के समान ही माना है। इनका मानना है कि पूर्वरंग के विधि विधानों की सम्यक् अनुपालना न किये जाने से सूत्रधार के द्वारा ही कथावस्तु की स्थापना का प्रचलन हो गया है।

• पारिपार्श्विक- परि उपसर्ग पूर्वक पार्श्व शब्द से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय और आदि अच् को वृद्धि करने पर पारिपार्श्विक (परि + पार्श्व + ठक्) शब्द व्युत्पन्न

परिपार्श्व का अर्थ है- 'समीप अथवा अगल-बगल में रहने वाला'। नाट्य के प्रसंग

में इसका अर्थ है- सहायता के लिये सूत्रधार के समीप रहने वाला विशेष नट।

"परितः समन्तात् सूत्रधारस्य पार्वे चरतीति पारिपार्श्विकः"। वस्तुतः यह सूत्रधार का सहयोगी नट है। काव्यार्थ की स्थापना में यह सूत्रधार की सहायता करता है।।

शारदातनय के अनुसार जो भरतों के द्वारा अभिनीत अनेक प्रकार के रसों पर आश्रित

भावों का परिष्कार करता है वह सूत्रधार के पार्श्वस्थ होने से पारिपार्श्विक कहलाता

है। तात्पर्य यह है कि सूत्रधार की भावना के अनुसार यह नटों से सरस अभिनय

कराता है। उनमें कुछ त्रुटि रह जाती है तो उनका परिमार्जन करता है। 1529,

नाट्यशास्त्र के अनुसार नान्दी के बाद दोनों पारिपार्श्विक उच्च स्वर से नान्दी

की भावना के अनुसार स्तुति आदि पाठ का उच्चारण करें। उच्चारण विशेष के

कारण इसे वादी भी कहते हैं। यह अभिवादनपरक स्तुति से, मधुर वाक्यों के द्वारा

अच्छे मंगलाचारों से समस्त लोक की स्तुति करता है। इसलिये वादी कहलाता

है।रंगमंच से निकलने के पूर्व सूत्रधार महाचारी के बाद त्रिगत की योजना करता

है। त्रिगत प्रस्तावना का एक प्रकार है जिसमें तीन प्रयोक्ता मंच पर उपस्थित होते

हैं। वे या तो सूत्रधार और उसके दो सहयोगी पारिपार्श्विक हो सकते हैं अथवा

सूत्रधार, नटी और पारिपार्श्विक हो सकते हैं अथवा सूत्रधार, पारिपार्श्विक और

विदूषक हो सकते हैं। ये तीनों काव्यार्थ सूचक वार्तालाप के माध्यम से दर्शकों का

मनोरंजन करके कथानक की स्थापना की भूमिका बाँधते हैं। त्रिगत के माध्यम से

प्रस्तुत प्रस्तावना में सूत्रधार के साथ विदूषक आदि हास्यजनक असम्बद्ध बातें

करके दर्शकों को हँसाते हैं। नाटकीय कथानक को प्रारम्भ करने वाली द्व्यर्थी

प्रश्नोत्तरों की योजना की जाती है। विदूषक पारिपार्श्विक की उचित बातों को भी

दोषपूर्ण कहता है, किन्तु सूत्रधार पारिपार्श्विक की बातों का समर्थन करता

नाट्यरचनाओं में प्रस्तावना के प्रसंग में प्रायः पारिपार्श्विक की उपस्थिति

दिखाई देती है। उदाहरण के लिये वेणीसंहार नाटक में सूत्रधार दर्शकों के मनोरंजन

के लिये पारिपार्श्विक से शरदृतु का गीत गाने का निर्देश देता है। सूत्रधार श्लिष्ट श्लोक का

शब्दावली में काल (शरत्काल) के प्रभाव से धार्तराष्ट्र नामक हंसों के विशेष

समूह के भूमण्डल पर उतरने का वर्णन करके उसके माध्यम से काल अर्थात् मृत्यु के कारण धार्तराष्ट्र अर्थात् कौरवपक्ष के काल-कवलित होकर भूमिपर गिरने की भावी घटना का संकेत भी करता है। उसके वर्णन से कौरवों के विनाश की सूचना ध्वनित होने से पारिपार्श्विक अमंगल की आशंका व्यक्त करता है। सूत्रधार पुनः

उसकी आशंका का निराकरण करने के लिये “निर्वाणवैरदहनाद्

पाठ करता है। इसका भाव ग्रहण करके भीमसेन सहदेव के साथ रंगमंच पर प्रवेश करता है। तत्पश्चात् सूत्रधार और पारिपार्श्विक दोनों रंगमंच से निकल जाते हैं।

इस प्रकार पारिपार्श्विक कथानक की स्थापना में सूत्रधार की सहायता करता है।

कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् और मालविकाग्निमित्रम् में भी पारिपार्श्विक कथानक की प्रस्तावना में सूत्रधार का सहयोग करते हैं।

पारिपार्श्विक मध्यम प्रकृति का रूप, गुण आकृति में सूत्रधार से बहुत ही कम

अन्तर रखता है। इसलिये इसके क्रियाकलाप भी दर्शकों को प्रभावित करते हैं।

सूत्रधार इसे मार्ष कहकर सम्बोधित करता है और यह सूत्रधार को भाव कहकर सम्बोधित करता है। नाट्यदर्पणकार' का यह कहना भी उपयुक्त लगता है कि

प्रस्तावना में भाग लेने वाले नटों में जिस विदूषक की चर्चा मिलती है वह वस्तुतः

पारिपार्श्विक ही है जो विदूषक का रूप धरकर मंचपर आता है और प्रेक्षकों का मनोरंजन करता है।

- विदूषक-नाट्यशास्त्र में विदूषक की चर्चा दो दृष्टियों को ध्यान में रखकर की गई है। प्रथमतः नाटकीय कथानक में राजा या मुख्य नायक के शृंगार-सहायक नर्मसचिव के रूप में। इस भूमिका में वह चाटुकारिता से भरी मीठी बातें बनाने में कुशल, प्रधान नायक का मुख्य सहयोगी और परिहास में ही नायक-नायिका को मिलाने में मुख्य भूमिका निभाता है। अपनी भोजनप्रिय और हँसी उत्पन्न करने वाली बातों से दर्शकों का मनोरंजन करता है।

प्रयोक्ताओं में जिस विदूषक की चर्चा की गई है, उसका कार्य उक्त विदूषक

से भिन्न है, क्योंकि यह भी काव्यार्थ की स्थापना के समय सूत्रधार के साथ दर्शकों

को हँसाने के लिये परिहासपूर्ण बातें करता है और नाटक की प्रस्तावना में सहयोगी

बनता है। भूमिका की समानता के आधार पर नाट्यदर्पणकार ने इसे पारिपार्श्विक ही कहा है, जो विदूषक के समान ही हास्यजनक वेशभूषा धारण करके नाटकीय वस्तु की स्थापना के समय रंगमंच पर उपस्थित रहता है। ऐसा लगता है कि सूत्रधार का सहयोग करने वाले दो नटों में एक गम्भीर प्रकृति का और दूसरा परिहासप्रिय विदूषक की सी प्रकृति का होता है। आवश्यकता के अनुसार नाटक के मुख्य कथानक में यही नायक के नर्मसचिव की भूमिका में भी आ जाता है। विदूषक के रूप, आकृति और गुणों की चर्चा में भरत कहते हैं कि ठिगने कद का, लम्बे दाँत वाला, कुबड़ा, इधर उधर बातों को लगाने वाला, अनाकर्षक सूरत वाला, गंजा, पीली अथवा भूरी आँखों वाला व्यक्ति विदूषक की भूमिका के लिये उपयुक्त रहता है। इसे भूमिका निभाने के लिये जनता को प्रसन्न किये जाने योग्य कार्य दिये जाते हैं। सभी लोगों की चेष्टाओं की नकल करना, स्त्रियों में शीघ्र घुलना-मिलना, परिहास में कहे गये और पारस्परिक विभेद करने वाले वचन-प्रयोग की सूझबूझ रखना, परिहासात्मक विकृत कथन करना आदि चेष्टायें विदूषक को

आबंटित की जाती हैं।

आमुख (प्रस्तावना) की परिभाषा में भी आचार्यों ने विदूषक की उपस्थिति स्वीकार की है-

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।

सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते।

चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।

आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावमापि सा ॥

सा.द., ६/३१,३२

अर्थात् नटी अथवा विदूषक अथवा पारिपार्श्विक में से कोई एक अथवा दो व्यक्ति सूत्रधार के साथ चित्र-विचित्र वाक्यों से अपने करणीय व्यापार के अनुरूप या पात्र आदि के प्रवेश को सूचित करने वाले या प्रस्तुत किये जाने वाले कथानक का आक्षेप करने वाले वाक्यों से परस्पर वार्तालाप करते हैं उसे आमुख कहते हैं। भगवदज्जुकम् में सूत्रधार विदूषक के सहयोग से प्रस्तावना कार्य करता है।

प्रस्तावना में वीथी नामक रूपक भेद के तेरह अंगों में से किसी एक अंग का सहारा लेकर भी प्रस्तावना प्रस्तुत किये जाने का विधान है। इसके अनेक अंग ऐसे हैं जो परिहासपूर्ण वार्तालाप से सम्बद्ध हैं और विदूषक द्वारा सम्पादित किये जाने योग्य हैं। प्रपंच नामक वीथी के अंग में हास्य को उत्पन्न करने वाला मिथ्याभूत वार्तालाप होता है। त्रिगत में श्रुति साम्य से अनेकार्थक वाक्य-योजना प्रस्तुत की जाती है। यद्यपि वक्ता का अभिप्राय दो अर्थों में नहीं होता है फिर भी अनेकार्थ का ग्रहण किया जाता है। वाक्केलि में दो-तीन उक्ति-प्रत्युक्तियों में हास्यजनक

वाक्यविन्यास किया जाता है। पूर्वापर सम्बन्ध से रहित असम्बद्ध उत्तर असत्प्रलाप कहलाता है। इसी प्रकार नालिका, व्याहार आदि के द्वारा भी हास्य

की योजना की जाती है। प्रस्तावना और वीथी के इन अंगों के माध्यम से विदूषक प्रेक्षकों का मनोरंजन करता हुआ काव्यार्थ की स्थापना में सूत्रधार की सहायता करता है। इसलिये इसे भी नाट्यप्रयोक्ताओं में स्थान दिया गया है।

- कुशीलव. भरतमुनि ने नाट्यप्रयोक्ताओं में कुशीलवों को भी स्थान दिया है। भरत कहते हैं कि कुश और लव के द्वारा दातव्य विद्या को धारण करके अपनी आजीविका चलाने वाला समूह कुशीलव कहलाता है। कोशग्रन्थों में इसकी अनेक प्रकार की व्युत्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। आप्टे के अनुसार कुशीलव नाटक का पात्र अथवा नर्तक है। अमरकोश में इन्हें कीर्ति का प्रचार करने से चारण कहा गया है। शब्दकल्पद्रुम में इसे देशान्तर में कीर्ति का प्रचार करने वाला नट और कथक संज्ञा से अभिन्न माना गया है। वहाँ इसे वाल्मीकि ऋषि का पर्याय भी माना गया है। रामायण, महाभारत, कौटलीय अर्थशास्त्र आदि में कुशीलव शब्द प्रचुरता से प्राप्त है। प्राप्त उल्लेखों से विदित होता है कि आरम्भिक अवस्था में कुशीलव व्यावसायिक कथा-वाचक थे। यह भी प्रसिद्धि है कि वाल्मीकि ने अपने रामायण महाकाव्य का प्रचार लव और कुश के द्वारा गवा कर कराया था। कुश और लव दोनों ही संगीतशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। इन्हें राग, ताल, छन्द, रस, स्वर, वीणा आदि का अच्छा अभ्यास था। ये राजसभाओं, गोष्ठियों, नगरों और वीथियों में घूम-घूम कर कथा गान करते थे।

शारदातनय के अनुसार वाणी और अंगों की चेष्टाओं के द्वारा अनेक प्रकार की भूमिकाओं की प्रकृति के अनुरूप अभिनय में कुशल होने के कारण कुशीलव संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। ये सभी प्रकार के वाद्यों के वादन के जानकार, कलाविज्ञ तथा नाटकीय कौशल के साथ ही सभी भाषाओं के विशेषज्ञ होते हैं।।

कुशीलव की एक व्युत्पत्ति कु उपपद पूर्वक शील शब्द से क अथवा व प्रत्यय के योग से भी मानी गई है। जिसका अर्थ है- कुत्सित या बुरे विचार वाला। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यमण्डली जो कि नाट्य के आरम्भिक काल में द्विज थी, वह ऋषियों के शाप से शूद्रत्व को प्राप्त हो गई थी। सम्भवतः तभी से भर्त्सना सूचक यह निर्वचन प्रचलित हुआ होगा और कालान्तर में चरितनायक के यश का विस्तार करके घूम-घूम कर कथावाचन कर आजीविका चलाने वाले वर्ग के लिये यह शब्द प्रचलन में आ गया।

अर्थशास्त्र के गणिकाध्यक्ष प्रकरण के अनुसार गणिका का पुत्र अपने आपको राजा की सेवा से मुक्त करने के लिये निष्क्रय स्वरूप १२ हजार पण चुका कर मुक्त हो सकता है। अन्यथा वह आठ वर्ष तक राजा के पास कुशीलव का कार्य करके स्वयं को मुक्त करा सकता है। इसी प्रकरण में नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवी व्यक्तियों के साथ कुशीलवों का उल्लेख ऐसे लोगों के रूप में किया गया है जो जायाजीवी अर्थात् अपनी स्त्रियों के द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। मनु के अनुसार वैश्य स्त्री में ब्राह्मण से उत्पन्न पुत्र अम्बष्ठ और ब्राह्मण स्त्री में वैश्य से उत्पन्न पुत्र वैदेहिक कहे गये हैं। वैदेहिका कन्या और अम्बष्ठ वर के विवाह से उत्पन्न सन्तान कुशीलव कही जाती है। ये प्रयोग कुशीलवों की हासमान सामाजिक स्थिति का बोध कराते हैं।

नाटकीय प्रयोग के साफल्य की दृष्टि से इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। भरत मुनि ने कुशीलवों को आतोद्यविधान अर्थात् वाद्यसंगीत में क्रियात्मक रूप से कुशल माना है। भरत इस शब्द की सार्थकता कुशल और अव्यथित वादन क्रिया से जोड़कर स्पष्ट करते हैं। नानातोद्यविधाने प्रयोगयुक्तः प्रवादने कुशलः।

कुशलावदातव्याधीत्तं यस्मात् तस्मात् कुशीलवः स्यात्॥

ना.शा., ३५/१०६ (सम्पा. बाबूलालशुक्ल)

अर्थात् जो अनेक प्रकार के वाद्यों को बजाने की जानकारी रखता हो तथा वादन में कुशल हो, वह अपने कुशलतापूर्ण, उज्ज्वल ज्ञान से गम्भीर होने के कारण कुशीलव कहलाता है।

परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लेख है कि ये पूर्वरंग की शान्ति के लिये निर्भाई जाने वाली क्रिया का सम्पादन करते थे। पूर्वरंग की परिभाषा करते हुये विश्वनाथ लिखते हैं "नाटकीय वस्तु के प्रारम्भ से पहले रंग विघ्न की शान्ति के लिये कुशीलवों के द्वारा किया गया विधि-विधान पूर्वरंग कहलाता है।¹" पूर्वरंग में की जाने वाली गायन-वादन विधियाँ कुशीलवों के द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं। मालविकाग्निमित्र और वेणीसंहार की प्रस्तावना में सूत्रधार कुशीलवों से नाट्योचित अभिलषित संगीत की विधियों में सहायता करने का निवेदन करते हैं।?

ऐसा विदित होता है कि कुशीलव बहुप्रतिभामुखी कलाजीवी जाति थी जो आवश्यकता के अनुसार कवि, चारण, भाट, अभिनेता, नट आदि के कार्य का निर्वाह कर सकती थी। इसलिये आवश्यकता के अनुरूप कथागान, यशोगान, वादन, नर्तन, अभिनय आदि कार्य करती थी। नाट्यशास्त्र के काल में इनका मुख्य कार्य संगीत और वाद्य से सम्बन्धित था। नाट्य की सफलता में संगीत की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। किसी दृश्य के परिवर्तन, पात्रों के रंगमंच पर प्रवेश या निर्गम, किसी विशेष देश, काल, परिस्थिति या वातावरण के निर्माण, पात्र की मनःस्थिति में बदलाव आदि दिखाने के लिये तदनुकूल संगीतविधान दृश्य में रोचकता बढ़ाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल में संगीत विधान-

अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक और पंचम अंक में संगीतविधान की चर्चा है।

Lecture by Ritu Mishra

Semester -3

Department of sanskrit

Shivaji college